International Journal of Information Movement Vol.I Issue VI (October 2016)
Website: ijim.in ISSN: 2456-0553 (online) Pages 53-57

सौन्दर्य का शास्त्र

दिलबाग सिंह
शोधार्थी, पीएच.डी. (हिन्दी)
दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा, मद्रास

सौन्दर्य वस्तुतः क्या है, यह कहना इतना आसान नहीं जितना सामान्यतः और विशेषतः मान लिया जाता है। भारतीय चिंतकों ने इस पर विस्तृत विचार किया है। किन्तु हम हिन्दी के सुप्रसिद्ध आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के इस उद्धरण को देना उचित समझते हैं - ''सौन्दर्य असल में वस्तु की समग्रता की अनुभूति है। इसके दो मोटे रूप है- एक तो वह जो हमें अभिभूत करता है, प्रवाहित करता है, चालित करता है, पर इसलिए नहीं कि वह ऐसा करना चाहता है। हम यह ठीक नहीं जानते हैं कि वह किसी अन्य अदृश्य शक्ति की इच्छा से ऐसा करता है या नहीं। कोई अदृश्य शक्ति उसके द्वारा हमें चालित, प्रेरित या अभिभूत करना चाहती है। परन्तु हम चालित, प्रेरित और अभिभूत होते हैं, यह बात संदिग्ध है। गुलाब का फूल है। वह वर्ण से, रूप से, गंध से हमें मोहित करता है। हम बिल्कुल नहीं जानते कि ऐसा वह चाहता है या नहीं। हमें वह लाल दिखता है। परन्तु 'लाल' शब्द हमारी रचना है। हमें यह भी नहीं मालूम कि वह स्वयं अपने को 'लाल' समझता है या नहीं। 'लाल' कहकर हम एक चाक्षुष सत्य का परिचय मात्र देते हैं। परन्तु भाषा की सीमा है। लाल सैंकड़ों चीजें होती हैं। सबको एक ही लाठी से हांकना संभव भी नहीं है, उचित भी नहीं है। मनुष्य की यह महिमा है कि उसने जैसे-तैसे सीमाओं के बंधन को अस्वीकार करते हुए अपनी अनुभूति को अभिव्यक्ति दी है 'लाल' शब्द के द्वारा।'' - दूसरी बात यह है कि ''पद-पद पर मानव-चित्त के अपार औत्सुक्य को प्रकट करने वाली इच्छा-शक्ति भाषा की सीमा से टकराती है। अपनी अनुभूति को जब भाषा द्वारा सीधे नहीं प्रकट कर पाती तो उपमा का सहारा लेती है। ... उत्प्रेक्षा का सहारा लेती है ... छंद से, स्वारघात से, काकु से, वचन-वक्रता से, हाथ घुमात्कर, मुँह बनाकर अर्थात् अभिनय से, इस अपार इच्छा-शक्ति का समाधान करना चाहता है। इच्छा अनंत है क्रिया सांत है। इच्छा नाद है- कन्टिनुअम है, क्रिया बिन्दु है- क्वेंटम है। इच्छा गति है, क्रिया स्थिति है। गति और स्थिति का द्वंद्व चलता रहता है। इसी से रूप बनता है, छंद बनता है, संगीत बनता है, नृत्य बनता है। इच्छा काल है, क्रिया देश है। इसी देश-काल के द्वंद्व से जीवन रूप लेता है प्रवाह के रूप में। .... प्राकृतिक सौन्दर्य है, दूसरा मानवीय-इच्छा शक्ति का विलास है। दूसरा सौन्दर्य प्रथम द्वारा चालित होता है पर है मनुष्य के अंतरतर की अपार इच्छा-शक्ति को रूप देने काप यास। एक केवल अनुभूति देकर विरत हो जाता है। दूसरा अनुभूति से उत्पन्न होकर अनुभूति-परम्परा का निर्माण करता है।''[१] इस लंबे उद्धरण से कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं। किन्तु मुख्य बात यह है कि प्राकृतिक सौन्दर्य के अतिरिक्त जो दूसरा सौन्दर्य है वह मानव निर्मित है। इसीलिए द्विवेदी जी इस दूसर प्रकार के सौन्दर्य को लालित्य कहना बेहतर समझते हैं। अर्थत् जो मानव द्वारा रचित हो।

सौन्दर्य की परिभाषा या शास्त्र गढ़ने वालों पर अज्ञेय जी कटाक्ष करते हुए लिखते हैं- ''सौन्दर्य क्या है, हम नहीं जानते, सौन्दर्य की परिभाषा बड़े-बड़े मर्मज्ञ नहीं कर सके और हम 'गहि-गहि गरब गरूर' इस कंटकाकीर्ण पथ पर चलने वाले नहीं हैं। किन्तु सौन्दर्य क्या है, यह न बता पा कर भी सुन्दर क्या है, यह हम जानते हैं, पहचानते हैं, बता सकते हैं कि क्या सुन्दर होता है और सुन्दर क्या है, यह बता सकने का अर्थ यह है कि हम कुछ ऐसे गुणों को पृथक् कर सकते हैं जिनके कारण सुन्दर सुन्दर है। वे तत्त्व क्या हैं? उनकी तालिका प्रस्तुत करना अनावश्यक हे। यहाँ आग्रहपूर्वक यही दोहराना यथेष्ट है कि सौन्दर्य-बुद्धि का व्यापार है : बुद्धि के द्वारा ही हम उन तत्त्वों को पहचानते हैं, मानव का अनुभव ही उन तत्त्वों की कसौटी है।''[२] अज्ञेय जी यह भी मानते हैं कि सुन्दर के बोध का आधार गोचर अनुभव है। उनके वाक्य है- ''हम कहते हैं लय अथवा 'रिदम'। शैशवकाल से ही हम जानते हैं कि हृदय का लययुक्त सम स्पंदन या लय-भंग उद्वेग, परेशानी, असुख के चिनह हैं। तब यदि हम मानते हैं कि लयमयता कला का अथवा सुन्न का एक मूल गुण है, तो क्या यह अपने अनुभूत सत्य का निरुपण ही नहीं है? इसी प्रकार हम मानते हैं कि सीधी रेखा सुन्दर नहीं होती, वक्र रेखाएँ सुन्दर होती हैं : यह क्या फिर हम अपना अनुभव नहीं दुहरा रहे हैं? हमारे अंगों का कोई भी सहज निक्षेप वक्रता या गोलाई लिए हुए होता है-अबोध शिशु भी जब हाथ-पैर पटकता है तो मंडलाकार गति से- सहज गति सीधी-सीधी रेखा में होती ही नहीं और सीधी रेखा में अंग-संचालन अत्यंत क्लेश-साध्य होता है। अतः वक्रता को कला-गुण या सौन्दर्य-तत्त्व मानने में हम फिर अपना अनुभव दोहरा रहे हैं : गोचर अनुभव का कार्य-कारण-ज्ञान के सहारे (बुद्धि द्वारा) प्राप्त किया हुआ निचोड़ ही हमारे सौन्दर्य-बोध का आधार है और चित्र या मूर्ति में जो रेखा की वक्रता है, अर्थात् जो दृश्य, स्पृश्य अथवा स्थूल है, वही यदि काव्य में आकर उक्ति की वक्रता का परम सूक्ष्म रूप ले लेती हे, तो क्या हमारी बुद्धि उसे

पकड़नहीं सकती? गोचर अनुभव से पाया हुआ सूक्ष्म-बोध क्या वहाँ हमारा सहायक नहीं होता?''[३] अज्ञेय जी की बातों से स्पष्ट है कि गोचर मानव अनुभव में वक्र रेखा की गति मंडलाकार होती है और सूक्ष्म-बोध सहायक होता है।

जैसा कि पहले देखा जा चुका है कि सुंदरता का बोध मात्र इन्द्रिय-बोध नहीं है। क्योंक गोचर मानव अनुभव भी एक सा नहीं है। मुक्तिबोध तो सौन्दर्य-प्रतीति और सामाजिक दृष्टि में विरोध देखने वाले दार्शनिकों की कृत्रिम विभाजित-बुद्धि पर व्यंग्य करने के बाद लिखते हैं- ''कवि, कहानी-लेखक, उपन्यासकार की सौन्दर्य प्रतीति में वह सामाजिक दृष्टि सन्निहित है, जिसका उसने उन जीवन-प्रसंगों के मार्मिक आकलन के समय उपयोग किया था। इस सामयिक दृष्टि के बिना वह सौन्दर्य-प्रतीति ही असंभव थी। हो सकता है कियह दृष्टि उसने परम्परा से, सामाजिक-राजनीतिक वायुमंडल से, प्राचीन तथा नवीन के संस्कारों-परिष्कारों से प्राप्त की हो। किसी भी विषय के आत्मगत आकलन तथा संकलन करने के समय से हमारे मन में, उसकी विविध बातों का जो मूल्यांकन शुरू होता है वह अंत तक रहता है, जब तक कि वह सृजनशील प्रक्रिया समाप्त नहीं हो जाती। सृजनशील प्रेरणा या बुद्धि स्वयं एक आलोचनाशील मूल्यांकनकारी शक्ति है, जो इस मूल्यांकन के द्वारा ही, अपने प्रसंग को उठाती है और उसे कलात्मक रूप से प्रस्तुत करती हे। बिना मूल्यांकनशील शक्ति के, कोई सृजन, कम से कम साहित्यिक सृजन, नहीं हो सकता है चाहे वह प्रातःकाल में गुलाब सूंघने का, प्रणयिनी के चुम्बन या कारखाने में हड़ताल का प्रसंग हो। जब-जब ये चित्र सृजनशील प्रक्रिया का एक अंग बनेंगे, उनमें उचित काट-छांट और संकलन होता रहेगा। इसकी पूरी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया में हमारी मूल्यांकनकारी शक्ति, बराबर उसी बात को लेगी जिसे हम मार्मिक समझते हैं। इस मूल्यांकनकारी शक्ति के बिना, हम मार्मिक अंश का संपादन नहीं कर सकते। दूसरे शब्दों में हमारी सृजन-प्रतिभा जीवन-प्रसंग की उद्भावना से लेकर तो अन्तिम संपादन तक अपनी मूल्यांकनकारी शक्ति का उपयोग करती है। ... मतलब यह कि जीवन-प्रसंग में तल्लीनता प्राप्त कर हम इतने डूब नहीं जाते कि समाधि लग जाती हो, वरन् मूल्यांकनकारी शक्ति के सचेत प्रयोग से हम उसके मार्मिक अंश उठाते हैं। अपनी ज्ञानसंवेदनाओं और संवेदनाज्ञान के प्रयोग से हम उनके उचित अंशों को प्रस्तुत करने के लिए अनवरत मूल्यांकन और सतत् संपादन करते जाते हैं। चाहे वह चित्रकला ही क्यों न हो। ... सौन्दर्य-प्रतीति की डुग्गी पीटने वाले लोग सामाजिक दृष्टि से भले ही ऊपर से थोपी हुई समझें, वह वस्तुतः यदि दृष्टि है तो कभी भी थोपी हुई नहीं रहती, वरन् हमारे अंतर का एक निजचेतस आलोक बनकर सामने आती है और जिस सामयिक दृष्टि में यह निजचेतस आलोक नहीं है, वह दृष्टि नहीं है और कुछ भले ही हो।''[४] स्पष्ट है कि साहित्यिक सृजन मशीनी सृजन से भिन्न है। इसीलिए कवि की मूल्यांकनकारी शक्ति एक पूरी प्रक्रिया से गुजरती है तथा जीवन-प्रसंग के मार्मिक अंश को ज्ञानसंवेदनाओं व संवेदनाज्ञान के प्रयोग से प्रस्तुत करती है। कविता, साहित्य और कला पर यह सामान्यतः लागू होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मानव द्वारा रचित सौन्दर्य प्राकृतिक सौन्दर्य से अलग नहीं है। मानव अनुभव गोचर वस्तु का होता है। सामयिक दृष्टि कवि के अंदर निजचेतस का आलोक बनकर सामने आती है। इसीलिए कवि की मूल्यांकनकारी शक्ति एक पूरी प्रक्रिया से गुजरती है तथा जीवन-प्रसंग के मार्मिक अंश को ज्ञानसंवेदनाओं व संवेदना ज्ञान के प्रयोग से प्रस्तुत करती है। कविता या साहित्य में यह प्रक्रिया सामान्यतः लागू होती है। किन्तु कैसे? इस बात को समझने के लिए काव्य या साहित्य का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाये। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी 'मात्र हमारे यहाँ' का ब्रह्मास्त्र नहीं चलाते अपितु शब्द और अर्थ के 'साहित्य' की चारुता का विचवार करते हुए उसे उच्चतर पटभूमि पर रखकर देखते हैं। वे लिखते हैं- ''काव्य भी स्थूल जगत से विच्छिन्न होकर नहीं रह सकता, क्योंकि शब्द और अर्थ ही उसके शरीर हैं और अर्थ शब्दों द्वारा सूचित बाह्य सत्ता को प्रकट करते हैं। एक व्यक्ति के चित्त में उचित अर्थ को दूसरे के चित्त में प्रवेश करके ही शब्द सार्थक होता है। भावावेग द्वारा कम्पित और आंदोलित शब्दार्थ अपने सीमित अर्थ से अधिक को प्रकाशित करता है। शब्द के अभिधेय अर्थ से कहीं अधिक को प्रकाशित करने वाली शक्ति को प्राचीनों ने नाना नाम देकर स्पष्ट करना चाहा है। सबसे अधिक प्रचलित और मान्य शब्द 'व्यंजना' है। अनुप्रास के साथ उसकी तुलना करके उसी भावावेगजनित कंपन की ओर इशारा किया गया है। छंद उस आवेग का वाहन है। छन्दोहीन भाषा में कल्पना और सम्मुर्तन तो हो सकता है, पर आवेग का कंपन नहीं होता। प्राचीन कथाओं की गद्य समझी जाने वाली भाषा में भी एक प्रकार का 'छंद' है- एक प्रकार की वक्र कल्पनशील नृत्यभंगिमा। ... यह भाषा ही छंदोमयी है, इसमें छंद है, झनकार है, लोच है, वक्रता है जो अर्थ में आवेग भरने का प्रयत्न करते हैं। ... अनुप्रास भावावेग के वेग में नृत्य का छंद जोड़ता है, जब एक ही ध्वनि बार-बार दुहराई जाती है तो श्रोता आवेग की वक्रिमता से सहज ही प्रभावित हो जाता है।''[५] काव्य के इन गुणों से संपृक्त होकर संगीत अपनी विशिष्टता प्राप्त करता है।

कविता और संगीत के अंतर्संबंध पर विचार करते हुए रामस्वरूप चतुर्वेदी जी लिखते हैं- ''कविता और संगीत के सम्बन्ध में विचार करते समय हम दो सर्वाधिक अमूर्त कला-प्रक्रियाओं का विवेच करते होते हें। कविता में शब्द से अर्थ की प्रक्रिया चलती है, जबकि संगीत में अर्थ सीधे ध्वनि या नाद से जुड़ा हुआ है, जो स्पष्ट ही अनुभव की प्राचीनतर और अधिक समय निरपेक्ष तथा

सार्वभौम प्रक्रिया है। शब्द से अर्थ का सम्बन्ध यादृच्छिक है जबकि नाद की सत्ता स्वयं अपने में सम्पूर्ण है। संगीत के उपादान सुर हैं जो जल अथवा वायु की तरह सृष्टि के अधिक मूलगामी, प्राकृतिक और विशुद्ध तत्त्व हैं और इसीलिए कम प्रयोगशक्य हैं। यही कारण है जिसमें कि हिन्दुस्तानी शास्त्रीय मौखिक संगीत की शताब्दियों पुरानी परम्परा में प्रयोग अपेक्षाकृत कम हुए हैं। प्रायः व्यंग्य में कही जाने वाली उक्ति कि जितना वह बलवती है उतना ही पूर्ववत रहती है, कहीं गम्भीर निष्ठा के साथ कहा जा सकता है तो संगीत कला के लिए।''[६] इस कथन में जो मुख्य है वह यह कि कविता में शब्द से अर्थ की प्रक्रिया चलती है, जबकि संगीत में अर्थ सीधे ध्वनि या कि नाद से जुड़ा हुआ है। अर्थात् शब्द से अर्थ की प्रक्रिया में सहज अंतर्संबंध है। कह सकते हैं कि काव्यगत प्रभाव में संगीत की सहज गति तभी मानी जा सकती है जब शब्दालंकार में अर्थ का भार कुछ न कुछ बना रहे।

इस प्रकार कविता से शब्द, अर्थ, व्यंजना, छंद, वक्र कम्पनशील नृत्य भंगिमा तथा संगीत का सहज सम्बन्ध है। इस संबंध से काव्यकला बनती है और इस काव्यकला को भामह के 'शब्दार्थो सहितौ काव्यं' से समझाते हुए डॉ. एस. सुरेन्द्र बारलिंगे लिखते हैं- ''वस्तुतः वे हमें कला माध्यम तथा कलाकार के सन्देश के बीच के सम्बन्ध को समझने की अंतर्दृष्टि दे रहे हैं। प्रस्तुत सन्दर्भ में उनका वर्ण्य विषय काव्य है, अतः वे 'शब्द' और 'अर्थ' की बात कर रहे हैं। शब्द और अर्थ अथवा वाक्य और वाक्य तितली के दो पंखों की भाँति हैं। काव्य के प्रसंग में उन्हें महत्त्वपूर्ण समझना चाहिए। सामान्य भाषा में संभवतः आशय, वाच्य अथवा वाचक अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकता है। परन्तु काव्य में इन दोनों को और न एक के सन्दर्भ को दृष्टि में रखे बिना दूसरे पर स्वतन्त्र रूप से विचार ही किया जा सकता है।''[७]

शब्द और अर्थ या वाचक व वाच्य का जैसा सम्बन्ध काव्य में है वैसा ही सम्बन्ध कला में भी। जबकि विजेन्द्र जी लिखते हैं - ''हम उसका (प्रकृति) कविता में अपनी तरह से पुनर्सृजन कर सकते हैं। उसे कलात्मक आकृति दे सकते हैं। उसका रूपकों द्वारा मानवीकरण किया जा सकता है। एक तरह से कवि ने अपने वस्तुजन्य अनुभवों का ही बिम्बों, रूपकों और शब्दों के द्वारा पुनःसृजन किया है। यानी वे अनुभव जो वस्तुजगत के, एक प्रकार से, बिम्ब ही हैं। हम ऐसा कुछ नहीं सिरजते जो हमने प्रत्यक्ष या परोक्ष अनुभव नहीं किया हो। किसी अनुभव का आधार वस्तुजगत ही है। इसीलिए सृजन के बुनियादी स्रोत बाहर हैं। कल्पना बिम्बों के माध्यम से रचनात्मक चिंतन है। हम ऐसी किसी चीज की कल्पना नहीं कर सकते, जिसे हमने इन्द्रियों द्वारा न जाना हो। जैसा मैंने कहा है कि पुनसृजन सीधा सपाट कर्म नहीं है। एक तो इसमें मेरा पूरा आभ्यंतर घुला-मिला रहता है। दूसरे, हम वस्तु जगत को इस तरह पुनस्सृजित करते हैं कि सृजित वस्तु नई, मौलिक और बड़ी अनहोनी लगने लगे कई बार लगता है कि जो पुनस्सृजित हुआ है वैसे कभी न तो पहले कभी सोचा, न देखा और न सुना। यह एक अलग बात है। पर कविता में जो घटित हुआ है वह कभी जीवन में चाहे उस तरह न घटा हो फिर भी वह घट सकता है इसीलिए कविता सबसे ज्यादा संभावित सच को रचती है। एक ऐसा संभावित सच जिसे हम काव्य तर्क से समझ सकते हैं।''[८]

सृजन के बुनियादी स्रोत मात्र बाहर मानने वाले विजेन्द्र जी वस्तु को अधिक महत्त्व देते हैं। जबकि भिन्न सन्दर्भ में द्विवेदी जी अर्थ की वक्रिमता को भी समान महत्त्व देते हैं- ''अर्थ की वक्रिमता को प्रकट करने वाली शक्तियाँ मनुष्य के चित्त में गुदगुदी जरूर उत्पन्न करती है, साहित्य में उनकी आवश्यकता भी होती है। इन सूक्तियों के सहारे कोमलीकृत चित्त में कवि सहज ही भावों को प्रवेश करा देता है। वृहत्तर मानव जीवन को गाढ़ भाव से उपलब्ध कराने में सूक्तियाँ सहायक होती हैं, परन्तु उससे विच्छिन्न होने पर उनकी उपयोगिता कम हो जाती है।''- इसलिए द्विवेदी जी मानते हैं कि - ''केवल गतिमात्र आ जाने से वह उद्देश्य सिद्ध नहीं होता जो काव्य का प्रधान उद्देश्य है। गति तो जड़ पिंडों में भी होती है। यह धरित्री-खण्ड न जाने कब से गतिशील है, लेकिन जड़ता उसकी गति में बाधा पहुँचाती है। जड़-पिंड घूम-फिर कर एक ही स्थान पर आ जाता है, चेतन आगे निकल जाता है। वर्तुलाकार मार्ग गति में संचरित जड़धर्म-जन्य बाधा का परिणाम है, वह पद-पद पर बाधा पहुँचाता है और जड़ पिंड चक्करदार मार्ग में घूमने को बाध्य होता है। गति के साथ आगे बढ़ना भी आवश्यक है। इसी को 'प्रगति' कहते हैं। यह चेतना की अपनी विशेषता है। जब तक सूक्तियों में यह चेतन धर्म नहीं संचरित होता तब तक छंद उनमें गति के वेग भर दे सकते हैं, प्रगति का उत्साह नहीं संचरित कर सकते। जो कवित्व मनुष्य को घुमाफिरा कर जहाँ का तहाँ छोड़ देता है, उसमें गति तो है लेकिन प्राण नहीं है। कुछ प्राण भी चाहिए। केवल कहना तो कहना नहीं है, कहने की चरितार्थता इस बात में कि मनुष्य को आत्म-धर्म के प्रति सचेतन बनाये। जिस कहने से कहने वाले की वेदना प्रत्यक्ष न हो जाये, श्रोता का हृदय सहानुभूति से पूर्ण न हो जाये, उसमें स्वाद क्या है भला!''[९] स्पष्ट है शब्दार्थ के साथ-साथ समवेदना भी होनी चाहिए। कह सकते हैं कि हमीर अन्तःसत्ता की तदाकार परिणति सुंदरता के लिए आवश्यक है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भी सौन्दर्य को समझाने के क्रम में योरोपीय कलावाद की खिल्ली उड़ाते हुए लिखा है- ''सौन्दर्य बाहर की कोई वस्तु नहीं है, मन के भीतर की वस्तु है। योरोपीय कला समीक्षा की यह एक बड़ी ऊँची उड़ान या बड़ी दूर की

कौड़ी समझी गई है। पर वास्तव में यह भाषा के गड़बढ़ झाले के सिवा और कुछ नहीं है। जैसे वीरकर्म से पृथक् वीरत्व कोई पदार्थ नहीं वैसे ही सुन्दर वस्तु से पृथक सौन्दर्य कोई पदार्थ नहीं। कुछ रूप-रंग की वस्तुएं ऐसी होती है जो हमारे मन में आते ही थोड़ी देर के लिए हमारी सत्ता पर ऐसा अधिकार कर लेती है कि उसका ज्ञान ही हवा हो जाता है और हम उन वस्तुओं की भावना के रूप में ही परिणत हो जाते हैं। हमारी अन्तःसत्ता की यही तदाकार-परिणति सौन्दर्य की अनुभूति है। इसके विपरीत कुछ रूप-रंग की वस्तुएं ऐसी होती हैं कि जिनकी प्रतीति या जिनकी भावना हमारे मन में कुछ देर टिकने ही नहीं पाती और एक मानसिक आपत्ति-सी जान पड़ती[९]। जिस वस्त के प्रत्यक्ष ज्ञान या भावना से तदाकार परिणति जितनी ही अधिक होगी, उतनी ही वह वस्तु हमारे लिए सुन्दर कही जायेगी। इस विवेचन से स्पष्ट है क भीतर-बाहर का भेद व्यर्थ है। जो भतर है वही बाहर है।''[१०] शुक्ल जी की इन बातों स स्पष्ट है कि भीतर और बाहर में कोई भेद नहीं है। साथ ही सुंदरता केवल मानव तक सीमित नहीं है अपितु प्रकृति के विभिन्न अनुभवों में भी है। यह बात तब और महत्त्वपूर्ण हो जाती है जब विषाक्त वायु चारों तरफ फैल रही हो।

शास्त्र के सौन्दर्य के बरक्स याद आते हैं मुंशी प्रेमचंद, जिन्होंने 'साहित्य का उद्देश्य' शीर्षक से निबंध में लिखा है- ''अब साहित्य ने यह काम अपने जिम्मे ले लिया है और उसका साधन सौन्दर्य-प्रेम है। वह मनुष्य में इसी सौन्दर्य-प्रेम को जगाने का यत्न करता है। ऐसा कोई मनुष्य नहीं, जिसमें सौन्दर्य की अनुभूति न हो। साहित्यकार में यह वृत्ति जितनी ही जागृत और सक्रिय होती है, उसकी रचना उतनी ही प्रभावमयी होती है। प्रकृति-निरीक्षण और अपनी अनुभूति की तीक्ष्णता की बदौलत उसके सौन्दर्यबोध में इतनी तीव्रता आ जाती है कि जो कुछ असुंदर है, अभद्र है, मनुष्यता से रहित है, वह उसके असह्य हो जाता है। उस पर वह शब्दों और भावों की सारी शक्ति से वार करता है। यों कहिए कि वह मानवता, दिव्यता और भद्रता का बाना बाँधे होता है। जो दलित है, पीड़ित है, वंचित है-चाहे वह व्यक्ति हो या समूह, उसकी हिमायत और वकालत करना उसका फर्ज है। उसकी अदालत के सामने वह अपना इस्तगासा पेश करता है और उसकी न्याय-वृत्ति तथा सौन्दर्य-वृत्ति को जाग्रत करके अपना यत्न सफल करता है।''[११] इसीलिए प्रेमचंद जी का जोर इस बात पर था कि -''उसकी (कलाकार) दृष्टि अभी इतनी व्यापक नहीं कि जीवन-संग्राम में सौन्दर्य का परमोत्कर्ष देखे। उपवास और नग्नता में भी सौन्दर्य का अस्तित्व संभव है, इसे कदाचित वह स्वीकार नहीं करता। उसके लिए सौन्दर्य सुन्दर स्त्री में है- यह बच्चों वाली गरीब रूप-रहित स्त्री में नहीं जो बच्चे को खेत की मेड़ पर सुलाये पसीना बहा रही है! उसने निश्चय कर लिया है कि रंगे होंठों, कपोलों और भौंहों में निःसंदेह सुंदरता का वास है, उसके उलझे हुए बालों, पपड़ियों पड़े होंठों और कुम्हलाये हुए गालों में सौन्दर्य का प्रवेश कहाँ?''[१२] प्रेमचंद जी का यह व्यंग्य है आर्टिफीशियल लोगों पर। जो वैविध्य पूर्ण सहज जीवन को महत्त्व नहीं देते, उनके लिए मुंशी प्रेमचंद का उपर्युक्त कथन भी महत्त्व नहीं रखता।

मात्र रूप-रंग पर जोर देने वाले ब्यूटी कम्पटीशन के आयोजकों को प्रभाकर श्रोत्रिय जी का यह कथन भी देखना चाहिए- ''रूप का संक्रमण नहीं होता, गुण का संक्रमण होता है। गुण के संक्रमण की इच्छा यथार्थ है और सामाजिक विकास का आधार भी। इसलिए जब हम विश्व के सौन्दर्य की दैहिक आधार पर पराकाष्ठा तय करते हैं तो भूल जाते हैं कि हम स्त्री के और शायद समस्त मानवता के सौंदर्यबोध को एक झूठी, कृत्रिम प्रवंचना में भुलाकर मानवता के भाव-सौन्दर्य, कर्म-सौन्दर्य, चरित्र-सौन्दर्य, साहस, मूल्य को नष्ट कर रहे हैं। जिस दिन शरीर की कसौटी पर कोई सुन्दरी विश्व विजय करती है उसी दिन दुनिया भर की स्त्रियाँ पराजित हो जाती है- यानी स्त्री के सारे गुण, सारे मूल्य और सारी उपलब्धियाँ।''[१३] इस कथन से स्पष्ट है कि रूप का संक्रमण नहीं होता वरन् वस्तु के गुण का संक्रमण होता है। सौन्दर्य के दर्शन के आधार पर चलने वाले लोगों पर मुंशी प्रेमचंद और प्रभाकर श्रोत्रिय के कथन उपयुक्त बैठते हैं।

इस प्रकार सौन्दर्य की परिभाषा बनाना अत्यंत जटिल है। भारतीय चिन्तक मानते रहे हैं कि सौन्दर्य अनुभूति का विषय है न कि ऐन्द्रियानुभूति का। वे यह भी मानते रहे हैं कि मानवीय सौन्दर्य प्राकृतिक सौन्दर्य से विछिन्न नहीं है। ये मनीषा पिंड और जगत में अभेद दृष्टि का परिचय देती है। यह बात भी स्पष्ट हो चुकी है कि सारी कलाएं शब्दार्थ के छंद से निसृत हैं। किसी भी साहित्य अथवा कला में समवेदना का होना अनिवार्य है। साहित्यिक सर्जन मशीनी उत्पादन से इसलिए भिन्न है कि कवि की मूल्यांकनकारी शक्ति एक लंबी प्रक्रिया से गुजरती है तथा जीवन-प्रसंग के मार्मिक अंश को ज्ञानसंवेदनाओं व संवेदनाज्ञान से प्रस्तुत करती है। काव्यगत संकेतों में जब तक चेतन धर्म नहीं संचारित होता तब तक प्रगति का संचार भी नहीं हो सकता। काव्यगत प्रभाव में संगीत की सहज गति तभी संभव है जब शब्दालंकार में अर्थ भार कुछ न कुछ बना रहे। अर्थ की वक्रिमता को प्रकट करने वाली सूक्तियाँ मानव जीवन को गाढ़ भाव से उपलब्ध कराने में सहायक होती हैं। यह भी जाहिर है कि गुण का संक्रमण होता है न कि रूप का। अतः प्रकृति और मानव, शब्दार्थ, मुर्तामुर्त, छंद में अभेद दृष्टि मानी जानी चाहिए। कवि की समवेदना इसीलिए महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह जीवन के महत्त्वपूर्ण प्रश्नों से जुड़ी है। अतः अब देखा जाना चाहिए कि शमशेर का सौन्दर्य से क्या आशय है तथा उनकी रचना-प्रक्रिया कैसी है।

संदर्भ-सूची -

१. हजारी प्रसाद द्विवेदी संचयिता, पृ. ४१२-४१३
२. सौन्दर्य-बोध और शिवत्व-बोध-अज्ञेय (संकल्प का सौन्दर्यशास्त्र), पृ. ७९
३. वही, पृ. ७९-८०
४. मुक्तिबोध रचनावली, खण्ड-५, पृ. १८७-८८
५. हजारी प्रसाद द्विवेदी संचयिता, पृ. ३६५-३६६
६. साहित्य के नए दायित्व (संचार-साधन और कला माध्यमों के सन्दर्भ में), पृ.५७-५८
७. भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की नयी परिभाषा, पृ. २६-२७
८. सौन्दर्यशास्त्र : भारतीय चित्त अैर कविता, पृ. ९२-९३
९. हजारी प्रसाद द्विवेदी संचयिता, पृ. ३६९-७०
१०. चिंतामणि, पृ. ९६
११. चिंतामणि, पृ. ९७
१२. साहित्य का उद्देश्य-प्रेमचंद (हिन्दी साहित्यशास्त्र), पृ. २९
१३. वही, पृ. ३०
१४. सौन्दर्य का तात्पर्य, पृ. २४-२५